

संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १४

ग्रन्थ परीक्षा



प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

ग्रन्थ परीक्षा

लेखक	:	पं० जुगलकिशोर मुख्तार
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति	:	११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लॉट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४



non copy right

अधिकार : किसी को भी प्रकाशित करने का अधिकार है, किन्तु स्वरूप, ग्रन्थ नाम, लेखक, सम्पादक एवं स्तर परिवर्तन न करें, हम आपके सहयोग के लिए तत्पर हैं, प्रकाशन के पूर्व हमसे लिखित अनुमति अवश्य प्राप्त करें। आप इसे डाउनलोड भी कर सकते हैं।

FOR PRIVATE & PERSONAL USE ONLY

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थायी बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचम्भित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय

का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारंगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

वर्तमान में उपलब्ध जैन साहित्य में मध्यकाल में हुए अनेक स्वार्थीजनों के द्वारा तत्काल की परिस्थितियों से प्रवाहित होकर जो जैनदर्शन की मूल अवधारणाओं के विपरीत लेखन हुए हैं, वह साहित्य में विकार के रूप में दिखाई देना लगा, इस शताब्दी में कुछ ही प्रज्ञा-पुरुष जैन विद्वानों ने ऐसा परिश्रम किया है, जिससे वह विकार और आगे न बढ़ पाये। इसी कड़ी में पं० जुगलकिशोर मुख्तार का 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम से चार भागों में उपलब्ध एक सार्थक प्रयास रहा है, जिसको पूर्व में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ने प्रकाशित किया था। जो पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं हैं और सत्य के ऊपर असत्य का मुलम्मा (आवरण) चढ़ा कर उसे ग्रहण करना पसंद नहीं करते हैं, ऐसे सत्यप्रिय तार्किक विज्ञानों द्वारा इस प्रकार की परीक्षाएँ सराही गई हैं। इस हेतु सम्पूर्ण चार भागों को एक ही कृति में एकत्रित करके आचार्य गुरुदेव के संयम स्वर्ण महोत्सव में प्रकाशित किया जा रहा है। एतदर्थ विद्वान् महोदय का और पूर्व प्रकाशन संस्था का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रास्ताविकी

पं० नाथूराम प्रेमी ने पूर्व संस्करण की निवेदन शीर्षक अपनी बात रखी है, जो इस प्रकार है—

जैनहितैषी में लगभग चार वर्ष से एक 'ग्रन्थ-परीक्षा' शीर्षक लेखमाला निकल रही है। इसके लेखक देवबन्द निवासी श्रीयुत् बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं। आपके इन लेखों ने जैन समाज को एक नवीन युग का सन्देशा सुनाया है और अन्धश्रद्धा के अंधेरे में निद्रित पड़े हुए लोगों को चकाचोंधा देने वाले प्रकाश से जाग्रत कर दिया है। यद्यपि बाह्यदृष्टि से अभी तक इन लेखों का कोई स्थूलभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानों के अन्तरंग में एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।

जैनधर्म के उपासक इस बात को भूल रहे थे कि जहाँ हमारे धर्म या सम्प्रदाय में एक ओर उच्चश्रेणी के निःस्वार्थ और प्रतिभाशाली ग्रन्थकर्ता उत्पन्न हुए हैं वहाँ दूसरी ओर नीचे दर्ज के स्वार्थी और तस्कर लेखक भी हुए हैं, अथवा हो सकते हैं, जो अपने छोटे सिक्कों को महापुरुषों के नाम की मुद्रा से अंकित करके खरे दामों में चलाया करते हैं। इस भूल के कारण ही आज हमारे यहाँ भगवान् कुन्दकुन्द और सोमसेन, समन्तभद्र और जिनसेन (भट्टारक) तथा पूज्यपाद और श्रुतसागर एक ही आसन पर बिठाकर पूजे जाते हैं। लोगों की सदसद्विवेकबुद्धि का लोप यहाँ तक हो गया है कि वे संस्कृत या प्राकृत में लिखे हुए चाहे जैसे वचनों को आप्त भगवान् के वचनों से जरा भी कम नहीं समझते। ग्रन्थपरीक्षा के लेखों से हमें आशा है कि भगवान् महावीर के अनुयायी अपनी इस भूल को समझ जायेंगे और वे आप अपने को और अपनी सन्तान को धूर्त ग्रन्थकारों की चंगुल में न फँसने देंगे।

जिस समय ये लेख निकले थे, हमारी इच्छा उसी समय हुई थी कि इन्हें स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छपवा लिया जाये, जिससे इस विषय की ओर लोगों का ध्यान कुछ विशेषता से आकर्षित हो परन्तु यह एक बिल्कुल ही नये ढंग की चर्चा थी, इसलिए हमने उचित समझा कि कुछ समय तक इस सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति की प्रतीक्षा की जाये। प्रतीक्षा की गई और खूब की गई। लेखमाला के प्रथम तीन लेखों को प्रकाशित हुए तीन वर्ष से भी अधिक समय बीत गया परन्तु कहीं से कुछ भी आहट न सुन पड़ी, विद्वत् मण्डली की ओर से अब तक इनके प्रतिवाद में कोई एक भी लेख नहीं निकला, बल्कि बहुत से विद्वानों ने हमारे तथा लेखक महाशय के समक्ष इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि आपकी समालोचनायें यथार्थ हैं। जैनमित्र के सम्पादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी

ने पहले दो लेखों को जैनमित्र में उद्धृत किया और उनके नीचे अपनी अनुमोदनसूचक सम्मति प्रकट की। इसी प्रकार दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और धनी सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी ने लेखमाला के प्रायः सभी लेखों को मराठी में प्रकाशित कराके मानों यह प्रकट कर दिया कि इस प्रकार के लेखों का प्रचार जितना अधिक हो सके उतना ही अच्छा है।

यह सब देखकर अब हम ग्रन्थपरीक्षा के समस्त लेखों को पृथक् पुस्तकाकार छपाने के लिए तत्पर हुए हैं। यह लेखमाला कई भागों में प्रकाशित होगी, जिनमें से पहले दो भाग छपकर तैयार हैं। पहले भाग में उमास्वामि-श्रावकाचार, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थों की परीक्षा के तीन लेख हैं और दूसरे भाग में भद्रबाहुसंहिता की परीक्षा का विस्तृत लेख है। अब इनके बाद जो लेख निकले हैं और निकलेंगे वे तीसरे भाग में संग्रह करके छपाये जायेंगे।

प्रथम भाग का संशोधन स्वयं लेखक महाशय के द्वारा कराया गया है, इससे पहले जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं वे सब इस आवृत्ति में दूर की गई हैं। साथ ही जहाँ तहाँ आवश्यकतानुसार कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन भी किया गया है।

समाज में केवल निष्पक्ष और स्वतंत्र विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से यह लेखमाला प्रकाशित की जा रही है और इसी कारण इसका मूल्य बहुत कम केवल लागत के बराबर-रखा गया है। आशा है कि सत्यप्रेमी पाठक इसका प्रचार करने में हमारा हाथ बँटायेंगे और प्रत्येक विचारशील के हाथों तक यह किसी न किसी तरह पहुँच जाये, इसका उद्योग करेंगे।

जैन समाज के समस्त पण्डित महाशयों से प्रार्थना है कि वे इन लेखों को ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनके विषय में अपनी-अपनी स्वतंत्र सम्मति हमारे पास भेजने की कृपा करें। इसके सिवाय निष्पक्ष विद्वानों का यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्याख्यानों तथा समाचार पत्रों आदि के द्वारा लोगों को ऐसे ग्रन्थों से सावधान रहने के लिए सचेत कर दें।

पं० नाथूराम प्रेमी ने पूर्व संस्करण की भूमिका में विस्तार से ग्रन्थ का वैशिष्ट्य लिखा है—

वर्षा का जल जिस शुद्ध रूप में बरसता है, उस रूप में नहीं रहता, आकाश से नीचे उतरते-उतरते और जलाशयों में पहुँचते-पहुँचते वह विकृत हो जाता है और इसके बाद तो उसमें इतनी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके मारे उसके वास्तविक स्वरूप का हृदयंगम कर सकना भी दुष्कर हो जाता है। फिर भी जो वस्तुतत्त्व के मर्मज्ञ हैं, पदार्थों का विश्लेषण करने में कुशल या परीक्षाप्रधानी हैं, उन्हें उन सब विकृतियों से पृथक् वास्तविक जल का पता लगाने में देर नहीं लगती है। परमहितैषी और परमवीतरागी भगवान् महावीर की वाणी को एक कवि ने जलवृष्टि की उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त मालूम होती है। पिछले ढाई हजार वर्षों का उपलब्ध इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान् का विश्व कल्याणकारी समीचीन धर्म जिस रूप में उपदिष्ट हुआ था, उसी रूप में नहीं रहा, धीरे धीरे वह विकृत होता गया, ज्ञात और अज्ञात रूप से उसे विकृत करने के बराबर प्रयत्न किये जाते रहे और

अब तक किये जाते हैं। सम्प्रदाय, संघ, गण, गच्छ, आम्नाय, पंथ आदि सब प्रायः इन्हीं विकृतियों के परिणाम हैं। भगवान् का धर्म सबसे पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ, और उसके बाद मूल, यापनीय, द्रविड़ काष्ठा, माथुर आदि नाना संघों और उनके गणों तथा गच्छों में विकृत होता रहा है। यह असम्भव है कि एक धर्म के इतने भेद प्रभेद होते जायें और उसकी मूल प्रकृति पर विकृतियों का प्रभाव नहीं पड़े। यद्यपि सर्वसाधारण जन इन सम्प्रदायों और पन्थों के विकार से विकृत हुए धर्म का वास्तविक शुद्ध स्वरूप अवधारण नहीं कर सकते हैं, परन्तु समय-समय पर ऐसे विचारशील विवेकी महात्माओं का जन्म अवश्य होता रहता है जो इन सब विकारों का अपनी रासायनिक और विश्लेषक बुद्धि से पृथक्करण करके वास्तविक धर्म को स्वयं देख लेते हैं और दूसरों को दिखा जाते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि वर्तमान जैनधर्म ठीक वही जैनधर्म है जिसका उपदेश भगवान् महावीर की दिव्यवाणी द्वारा हुआ था, उसमें जरा भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सम्मेलन नहीं हुआ है—अक्षरशः ज्यों का त्यों चला आ रहा है, उन्हें धर्मात्मा या श्रद्धालु भले ही मान लिया जाये, परन्तु विचारशील नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया हो, वे शास्त्री या पण्डित कहलाते हों, परन्तु शास्त्र पढ़ने या परीक्षाएँ देने से ही यह नहीं कहा जा सकता है कि वे इस विषय में कुछ गहरे पैठ सके हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्य रागद्वेष से युक्त है, अपूर्ण है और उन पर देश काल का कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है, वे इस बात पर कभी विश्वास नहीं करेंगे कि ढाई हजार वर्ष के इतने लम्बे समय में, इतने संघों और गण गच्छों की खींचातानी में पड़कर भी उनके द्वारा भगवान् के धर्म में जरा भी रूपान्तर नहीं हुआ है।

हमारे समाज के विद्वान् तो अभी तक यह मानने को तैयार नहीं थे कि जैनाचार्यों में भी परस्पर कुछ मतभेद हो सकते हैं। यदि कहीं कोई ऐसे भेद नजर आते थे, तो वे उन्हें अपेक्षाओं की सहायता से या उपचार आदि कहकर टाल देते थे, परन्तु अब 'ग्रन्थ परीक्षा' के लेखक पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी सुचिन्तित और सुपरीक्षित 'जैनाचार्यों का शासनभेद' नाम की लेखमाला में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि जैनाचार्यों में भी काफी मतभेद थे, जो यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हैं कि भगवान् का धर्म शुरू से अब तक ज्यों का त्यों नहीं चला आया है और उसके असली रूप के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में रूपान्तर हुए हैं और बराबर होते रहते हैं। उदाहरण के लिए पहले हिन्दूधर्म को ही ले लीजिए। बड़े-बड़े विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्म के जबरदस्त प्रभावों में पड़कर उसकी 'वैदिकी हिंसा' लुप्तप्राय हो गई है और वैदिक समय में जिस गौ के बछड़े के मांस से ब्राह्मणों का अतिथिसत्कार किया जाता था, (महोजं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्) वही आज हिन्दूओं की पूजनीया माता है और वर्तमान हिन्दूधर्म में गोहत्या महापातक गिना जाता है। हिन्दू अब अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में बतलाई हुई नियोग की प्रथा को व्यभिचार और

अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों को अनाचार समझते हैं। जिस बौद्धधर्म ने संसार से जीवहिंसा को उठा देने के लिए प्रबल आन्दोलन किया था, उसी के अनुयायी तिब्बत और चीन के निवासी आज सर्वभक्षी बने हुए हैं—चूहे, छछूँदर, कीड़े व मकोड़े तक उनके लिए अखाद्य नहीं हैं! महात्मा बुद्ध नीच-ऊँच के भेदभाव से युक्त वर्णव्यवस्था के परम विरोधी थे, परन्तु आज उनके नेपाल देशवासी अनुयायी हिन्दुओं के ही समान जातिभेद के रोग से ग्रसित हैं। महात्मा कबीर जीवनभर इस अध्यात्मवाणी को सुनाते रहे कि—

“जात पाँत पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।”

परन्तु आज उनके लाखों अनुयायी जाति-पाँति के कीचड़ में अपने अन्य पड़ोसियों के ही समान फँसे हुए हैं। इस ऊँच-नीच के भेद-भाव की बीमारी से तो सुदूर यूरोप से आया हुआ ईसाई धर्म भी नहीं बच सका है। पाठकों ने सुना होगा कि मद्रास प्रान्त में ब्राह्मण ईसाइयों के गिरजाघर जुदा और शूद्र ईसाइयों के गिरजाघर जुदा हैं। और वे एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी दशा में हमारे जैनधर्म में देश-काल के प्रभाव से और अपने पड़ोसी धर्मों के प्रभाव से कुछ विकृतियाँ घुस गई हों, तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन विकृतियों में कुछ विकृतियाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें साधारण बुद्धि के लोग भी समझ सकते हैं। यथा—

१. जैनधर्म सम्मत वर्णव्यवस्था के अनुसार जिसका कि आदिपुराण में प्रतिपादन किया गया है, प्रत्येक वर्ण के पुरुष अपने से बाद के सभी वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह कर सकते हैं, बल्कि धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अनुसार तो पहले के तीन वर्णों में परस्पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही क्रमों से विवाह हो सकता है और पुराण ग्रन्थों के उदाहरणों से इसकी पुष्टि भी होती है, परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो एक वर्ण की जो सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं और जैनधर्म का पालन कर रही हैं, उनमें भी परस्पर विवाह करना पाप बतलाया है और इसके लिए उसके बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित शास्त्रों से खींच-तानकर प्रमाण तक देने की धृष्टता करते हैं। क्या यह विकृति नहीं है?

२. भगवज्जिनसेन के आदिपुराण की ‘वर्णलाभक्रिया’ के अनुसार प्रत्येक अजैन को जैनधर्म की दीक्षा दी जा सकती है और फिर उसका नया वर्ण स्थापित किया जा सकता है, तथा उस नये वर्ण में उसका विवाह सम्बन्ध किया जा सकता है। उसको उसके प्राचीन धर्म से यहाँ तक जुदा कर डालने की विधि है कि उसका प्राचीन गोत्र भी बदलकर उसे नये गोत्र से अभिहित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान जैनधर्म के ठेकेदारों ने भोली-भाली जनता को सुधारकों के विरुद्ध भड़काने के लिए इसी बात को एक हथियार बना रखा है कि देखिए, ये मुसलमानों और ईसाइयों को भी जैनी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार जारी कर देना चाहते हैं। मानों मुसलमान और ईसाई मनुष्य ही नहीं हैं। क्या यह विकृति नहीं है? क्या भगवान् महावीर का विश्व धर्म इतना ही संकीर्ण था? लब्धिसार की १९५वीं

गाथा की टीका से^१ स्पष्ट मालूम होता है कि म्लेच्छ देश से आये हुए म्लेच्छ पुरुष भी मुनिदीक्षा ले सकते थे और इस तरह मुक्तिप्राप्ति के अधिकारी बनते थे।

३. सारत्रय के प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयसेनसूरि के कथनानुसार सत्-शूद्र भी मुनिदीक्षा ले सकते हैं।^२ परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो शूद्रों को इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता है। शूद्र तो खैर बहुत नीची दृष्टि से देखे जाते हैं, परन्तु उन दक्षिणी जैनियों के भी मुनिदीक्षा लेने पर कोलाहल मचाया जाता है जिनके यहाँ विधवा विवाह होता है। उदार जैनधर्म पर इस प्रकार की विकृतियाँ क्या लाञ्छनस्वरूप नहीं हैं?

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, इन विकृतियों को पहिचान करके असली धर्म को प्रकाश में लाने वाली विभूतियाँ समय-समय पर होती रहती हैं। सारत्रय के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी ही विभूतियों में से एक थे। वर्तमान दिगम्बर संप्रदाय के अधिकांश लोग अपने को कुन्दकुन्द की आम्नाय का बतलाते हैं। मालूम नहीं, लोगों का कुन्दकुन्दाम्नाय और कुन्दकुन्दान्वय के सम्बन्ध में क्या ख्याल है, परन्तु मैं तो इसे जैनधर्म में उस समय तक जो विकृतियाँ हो गई थीं, उन सबको हटाकर उसके वास्तविक स्वरूप को आविष्कृत करके सर्व साधारण के समक्ष उपस्थित करने वाले एक महान् आचार्य के अनुयायियों का सम्प्रदाय समझता हूँ। भगवान् कुन्दकुन्द के पहले और पीछे अनेक बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं, उनकी आम्नाय या अन्वय न कहलाकर कुन्दकुन्द की ही आम्नाय या अन्वय कहलाने का अन्यथा कोई बलवत्कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है। मेरा अनुमान है कि भगवत्कुन्दकुन्द के समय तक जैनधर्म लगभग उतना ही विकृत हो गया था, जितना वर्तमान तेरहपन्थ के उदय होने के पहले भट्टारकों के शासन समय में हो गया था और उन विकृतियों से मुक्त करने वाले तथा जैनधर्म के परम वीतराग शान्त मार्ग को फिर से प्रवर्तित करने वाले भगवान् कोण्डकुण्ड ही थे। परन्तु समय का प्रभाव देखिए कि वह संशोधित शान्तमार्ग भी चिरकाल तक शुद्ध न रहा, आगे चलकर वही भट्टारकों का धर्म बन गया। कहाँ तो तिल-तुष मात्र परिग्रह रखने का भी निषेध और कहाँ हाथी, घोड़े और पालकियों के ठाठ-बाट। घोर परिवर्तन हो गया।

जब कुन्दकुन्दान्वयी शुद्ध मार्ग धीरे-धीरे इतना विकृत हो गया कि विकृति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, तब कुछ विवेकी और विश्लेषक विद्वानों का ध्यान फिर इस और गया और जैसा कि मैंने अपने “वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय या तेरहपन्थ और बीसपन्थ”^३ शीर्षक विस्तृत

१. म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जात-वैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूपन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥ १९५ ॥ पृष्ठ २४१।

२. ... एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि -प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०५।

३. देखो, जैन हितैषी भाग १४, अंग ४।

लेख में बतलाया है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में स्वर्गीय पं० बनारसीदास जी ने फिर एक संशोधित और परिष्कृत मार्ग की नींव डाली, जो पहले 'बाणारसीय' या 'बनारसी-पंथ' कहलाया और आगे चलकर तेरहपंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।^{१४} इस पंथ ने और इसके अनुयायी पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी, पं० दौलतरामजी, पं० सदासुखदासजी, पं० पन्नालाल जी दूनीवाले आदि विद्वानों ने जो साहित्य निर्माण किया और जिस शुद्धमार्ग का प्रतिपादन किया, उसने दिगम्बर सम्प्रदाय में एक बड़ी भारी क्रान्ति कर डाली और उस क्रान्ति का प्रभाव इतना वेगशाली हुआ कि उससे जैनधर्म के शिथिलाचारी महन्तों या भट्टारकों के स्थायी समझे जाने वाले सिंहासन देखते-देखते धराशायी हो गये और कई सौ वर्षों से जो धर्म के एकच्छत्रधारी सम्राट् बन रहे थे, वे अप्रतिष्ठा के गहरे गड्ढे में फेंक दिये गये।

भट्टारकों का उक्त विकृत मार्ग कितना पुराना है, इसका अनुमान पण्डितप्रवर आशाधर द्वारा उद्धृत इस वचन से होता है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

अर्थात्—भ्रष्टचरित्र पण्डितों और बठर साधुओं या भट्टारकों ने जिन भगवान् का निर्मल शासन मलिन कर डाला। पं० आशाधर जी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अंत में मौजूद थे और उन्होंने इस श्लोक को किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। अर्थात् इससे भी बहुत पहले भगवान् महावीर के शासन में अनेक विकृतियाँ पैठ गई थी।

तेरहपंथ के पूर्वोक्त मिशन ने जैनधर्म की विकृतियों को हटाने और उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में जो प्रशंसनीय उद्योग किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। यदि इसका उदय न हुआ होता, तो आज दिगम्बर जैन समाज की क्या दुर्दशा होती, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती है। बागड़ प्रान्त में दौरा करने वाले बम्बई जैन प्रान्तिक सभा के एक उपदेशक ने कोई १०-१२ वर्ष हुए, मुझसे कहा था कि कुछ समय पहले वहाँ के श्रावक शास्त्रस्वाध्याय आदि तो क्या करेंगे, उन्हें जिन भगवान् की मूर्ति का अभिषेक और प्रक्षाल करने का भी अधिकार नहीं था। भट्टारक जी के शिष्य पण्डित जी ही जब कभी आते थे, यह पुण्यकार्य करते थे और अपनी दक्षिणा लेकर चले जाते थे। कहते थे, तुम बाल-बच्चों वाले अब्रह्मचारी लोग भगवान् की प्रतिमा का स्पर्श कैसे कर सकते हो? और यह तो अभी कुछ ही वर्षों की बात है जब भट्टारकों के कर्मचारी श्रावकों से मार-मारकर अपना टैक्स वसूल

४. सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु श्रीमेषविजय जी महोपाध्याय ने अपना 'युक्तिप्रबोध' नाम का प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित इस 'वाणारसीय' मत के खण्डन के लिए ही विक्रम की अठाहरवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनाया था— "बोच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयभेयं।"— सुजनों के हितार्थ वाणारसी मत का भेद कहता हूँ। इस ग्रन्थ में इस मत की उत्पत्ति का समय विक्रमसंवत् १६८० प्रकट किया है। यथा— सिरिविक्कमनरनाहागए हिं सोलहसएहिं वासेहिं। असि उत्तरेहिं जायं वाणारसिअस्स मयभेयं॥१८॥

करते थे। तथा जो श्रावक उनका वार्षिक टैक्स नहीं देता था, वह बँधवा दिया जाता था। हम आज भले ही इस बात को महसूस न कर सकें, परन्तु एक समय था, जब समूचा दिगम्बर जैन समाज इन शिथिलाचारी साथ ही अत्याचारी पोपों की पीड़ित प्रजा था और इन पापों के सिंहासन को उलट देने वाला यही शक्तिशाली तेरहपंथ था। यह इसी की कृपा का फल है, जो आज हम इतनी स्वाधीनता के साथ धर्मचर्चा करते हुए नजर आ रहे हैं।

तेरहपंथीयों ने भट्टारकों या महन्तों की पूजा प्रतिष्ठा और सत्ता को तो नष्टप्राय कर दिया, परन्तु उनका साहित्य अब भी जीवित है और उसमें वास्तविक धर्म को विकृत कर देने वाले तत्त्व मौजूद हैं। यद्यपि तेरहपन्थी विद्वानों ने अपने भाषाग्रन्थों के द्वारा और ग्राम-ग्राम नगर-नगर में स्थापित की हुई शास्त्र सभाओं के द्वारा लोगों को इतना सजग और सावधान अवश्य कर दिया है कि अब वे शिथिलाचार की बातों को सहसा मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भेषी पाखण्डियों ने वास्तविक धर्म को बहुत सी मिथ्यात्वपोषक बातों से भर दिया है, फिर भी संस्कृत ग्रन्थों के और अपने पूर्वकालीन बड़े-बड़े मुनि तथा आचार्यों के नाम से अब भी ठगाये जाते हैं। बेचारे सरल प्रकृति के लोग इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े-बड़े पूज्य मुनिराजों के नाम से भी ग्रन्थ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं। उन्हें नहीं मालूम है कि संस्कृत में जिस तरह सत्य और महान् सिद्धान्त लिखे जा सकते हैं, उसी तरह असत्य और पाप कथाएं भी रची जा सकती हैं।

अतएव इस ओर से सर्वथा निश्चिन्त न होना चाहिए। लोगों को इस संस्कृत भक्ति और नाम भक्ति से सावधान रखने के लिए और उनमें परीक्षाप्रधानता की भावना को दृढ़ बनाये रखने के लिए अब भी आवश्यकता है कि तेरहपंथ के उस मिशन को जारी रखा जाये जिसने भगवान् महावीर के धर्म को विशुद्ध बनाये रखने के लिए अब तक निःसीम परिश्रम किया है। हमें सुहृद्धार पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार का चिर कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'ग्रन्थ परीक्षा' नामक लेखमाला और दूसरे समर्थ लेखों द्वारा इस मिशन को बराबर जारी रखा है और उनके अनवरत परिश्रम ने भट्टारकों की गढ़ियों के समान उनके साहित्य के सिंहासन को भी उलट देने में कोई कसर बाकी नहीं रखी है।

लगभग १२ वर्ष के बाद 'ग्रन्थ परीक्षा' का यह तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है जिसका परिचय कराने के लिए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। पिछले दो भागों की अपेक्षा यह भाग बहुत बड़ा है, और यही सोचकर यह इतने विस्तृत रूप में लिखा गया है कि अब इस विषय पर और कुछ लिखने की आवश्यकता न रहे। भट्टारकी साहित्य के प्रायः सभी अंग प्रत्यंग इसमें अच्छी तरह उघाड़ कर दिखला दिये हैं और जैनधर्म को विकृत करने के लिए भट्टारकों ने जो जो जघन्य और निन्द्य प्रयत्न किये हैं, वे प्रायः सभी इसके द्वारा स्पष्ट हो गये हैं।

मुख्तारसाहब ने इन लेखों को, विशेषकर के सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा को, कितने परिश्रम

से लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्या का फल है, यह बुद्धिमान पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षों में किसी भी जैन विद्वान् ने कोई इस प्रकार का समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रम से लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहट के कही जा सकती है कि इस प्रकार के परीक्षा लेख जैन साहित्य में सबसे पहले हैं और इस बात की सूचना देते हैं कि जैन समाज में तेरहपंथ द्वारा स्थापित परीक्षाप्रधानता के भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजी के साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलता को प्राप्त करने में समर्थ होगा।

विद्वज्जनबोधक आदि ग्रन्थों में भी भट्टारकों के साहित्य की परीक्षा की गई है और उसका खण्डन किया गया है, परन्तु उनके लेखकों के पास जाँच करने की केवल एक ही कसौटी थी कि अमुक विधान वीतराग मार्ग के अनुकूल नहीं है, अथवा वह अमुक बड़े आचार्य के मत से विरुद्ध है और इससे उनका खण्डन बहुत जोरदार न होता था, क्योंकि श्रद्धालु फिर भी कह सकता था कि यह भी तो एक आचार्य का कहा हुआ है, अथवा यह विषय किसी ऐसे पूर्वाचार्य के अनुसार लिखा गया होगा जिसे हम नहीं जानते हैं, परन्तु ग्रन्थ परीक्षा के लेखक महोदय ने एक दूसरी अलब्धपूर्व कसौटी प्राप्त की है, जिसकी पहले के लेखकों की कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओं के स्मृति ग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थों के सैकड़ों श्लोकों को सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थों में से चुरा-चुराकर और उन्हें तोड़ मरोड़कर सोमसेन आदि ने ये अपने-अपने 'भानुमती के कुनबे' तैयार किये हैं, जाँच करने का यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैनधर्म का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने वालों के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

ये परीक्षालेख इतनी सावधानी से और इतने अकाट्य प्रमाणों के आधार से लिखे गये हैं कि अभी तक उन लोगों की ओर से जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्य के परम पुरस्कर्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्ति का भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षा के पिछले दो भागों को प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक दो पण्डितमन्यों ने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे, परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखों का खण्डन लिखा जा सकता और फिर भी पण्डितों का दल का दल चुपचाप बैठा रहता, परन्तु बात यह है कि इन पर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती, परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाये? गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियों के लिए लोहे के चने हैं, यह सब तरह से सप्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।

मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस लेखमाला का पूरा आदर करेगा और इसे पढ़कर जैनधर्म में घुसे हुए मिथ्या विश्वासों, शिथिलाचारों और अजैन प्रवृत्तियों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करके वास्तविक धर्म पर आरुढ़ होगा।

मेरी समझ में इस लेखमाला को पढ़कर पाठकों का ध्यान नीचे लिखी हुई बातों की ओर आकर्षित होना चाहिए—

१. किसी ग्रन्थ पर किसी जैनाचार्य या विद्वान् नाम देखकर ही यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह जैन ग्रन्थ ही है और उसमें जो कुछ लिखा है, वह सभी भगवान् की वाणी है।

२. भट्टारकों ने जैनधर्म को बहुत ही दूषित किया है। वे स्वयं ही भ्रष्ट नहीं हुए थे, जैनधर्म को भी उन्होंने भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया था। यह प्रायः असंभव है कि जो स्वयं भ्रष्ट हो, वह अपनी भ्रष्टता को शास्त्रोक्त सिद्ध करने का कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयत्न न करे।

३. भट्टारकों के पास विपुल धन सम्पत्ति थी। उसके लोभ से अनेक ब्राह्मण उनके शिष्य बन जाते थे और समय पाकर वे ही भट्टारक बनकर जैनधर्म के शासक पद को प्राप्त कर लेते थे। इसका फल यह होता था कि वे अपने पूर्व के ब्राह्मणत्व के संस्कार ज्ञात और अज्ञात रूप से जैनधर्म में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करते थे। उनके साहित्य में इसी कारण अजैन संस्कारों का इतना प्राबल्य है कि उसमें वास्तविक जैन धर्म बिल्कुल छुप गया है।

४. सुना गया है कि भट्टारक लोग ब्राह्मणों को नौकर रखकर उनके द्वारा अपने नाम से ग्रन्थ रचना कराते थे। ऐसी दशा में यदि उनके साहित्य में जैनधर्म की कलई किया हुआ ब्राह्मण साहित्य ही दिखलाई दे, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

५. इस बात का निश्चय करना कठिन है कि भट्टारकों के साहित्य का कब से प्रारम्भ हुआ है, इसलिए अब हमें इस दूध से जलकर छाँछ को भी फूँक-फूँक कर पीना चाहिए। हमें अपनी एक ऐसी विवेक की कसौटी बना लेनी चाहिए जिस पर हम प्रत्येक ग्रन्थ को कस सकें। जिस तरह हमें किसी बड़े आचार्य के नाम से भुलावे में न पड़ना चाहिए, उसी तरह प्राचीनता के कारण भी किसी ग्रन्थ पर विश्वास न कर लेना चाहिए।

६. संस्कृत के विद्यार्थियों, पण्डितों तथा शास्त्रियों का ध्यान इन लेखमालाओं के द्वारा तुलनात्मक पद्धति की ओर आकर्षित होना चाहिए और उन्हें प्रत्येक विषय का अध्ययन खूब परिश्रम से करने की आदत डालनी चाहिए। ये परीक्षा लेख बतलाते हैं कि परिश्रम करना किसे कहते हैं।

७. अभी जरूरत है कि और अनेक विद्वान्, इस मार्ग पर काम करें। भट्टारकों के रचे हुए कथाग्रन्थ और चरितग्रन्थ बहुत अधिक हैं। उनका भी बारीकी से अध्ययन किया जाना चाहिए और जिन प्राचीन ग्रन्थों के आधार से वे लिखे गये हैं, उनके साथ उनका मिलान किया जाना चाहिए। भट्टारकों ने ऐसी भी बीसों कथायें स्वयं गढ़ी हैं जिनका कोई मूल नहीं है।

अंत में सुहृद् पण्डित जुगलकिशोर जी को उनके इस परिश्रम के लिए अनेकशः धन्यवाद देकर मैं अपने इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। सोमसेन त्रिवर्णाचार की यह परीक्षा उन्होंने मेरे ही आग्रह और मेरी ही प्रेरणा से लिखी है, इसलिए मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ। क्योंकि इससे जैन समाज का जो मिथ्याभाव हटेगा, उसका एक छोटा सा निमित्त मैं भी हूँ। इति।

इस कृति के प्रकाशक जौहरीमल जैन लिखते हैं कि—

‘सूर्यप्रकाश’ कैसा, किस कोटि का जाली ग्रन्थ है, कितना अधिक जैनत्व से गिरा हुआ है, कहाँ तक भगवान् महावीर के पवित्र नाम को कलंकित तथा जैनशासन को मलिन करने वाला है और उसका अनुवाद कितना अधिक निरंकुशता, धूर्तता एवं अर्थ के अनर्थ को लिए हुए है, ये सब बातें इस परीक्षा-लेखमाला में दिनकर-प्रकाश की तरह स्पष्ट करके बतलाई गई हैं। जैनसमाज में ग्रन्थों की परीक्षा के मार्ग को स्पष्ट और प्रशस्त बनाने वाले मुख्तार साहब पण्डित जुगलकिशोर जी की यह लेखमाला ‘जैनजगत्’ में १६ दिसम्बर सन् १९३१ के अङ्क से प्रारम्भ होकर पहली फरवरी सन् १९३३ तक के अङ्कों में १० लेखों द्वारा प्रकट हुई थी। उसी को मुख्तार साहिब से पुनः संशोधित कराकर यह पुस्तक रूप में प्रकट किया जा रहा है। लेखक महोदय ने इस लेखमाला के द्वारा ग्रन्थ की असलियत को खोलकर निःसन्देह समाज का बड़ा ही उपकार किया है। आपका यह लिखना बिल्कुल ठीक है कि इस ग्रन्थ की गोमुख-व्याघ्रता ‘चर्चासागर’ से भी बढ़ी चढ़ी है और इसलिये इसके द्वारा समाज को अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है। अतः समाज के सभी सज्जनों से मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तक को गौर के साथ साद्यन्त पढ़ने की कृपा करें और उसके फलस्वरूप चर्चासागर के इस बड़े भाई ‘सूर्यप्रकाश’ का शीघ्र की पूर्ण रूप से बहिष्कार करके प्राचीन जैनसाहित्य और जैनशासन की रक्षा का पुण्य सम्पादन करें।

अन्त में मैं, लेखक महोदय और भूमिका-लेखक पण्डित दरबारीलाल जी का तथा श्रीमान् ब्र. दीपचन्द्र जी वर्णी का हृदय से आभार मानता हुआ, उन सभी सज्जनों का सहर्ष धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में मुझे आर्थिक आदि किसी भी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

श्री वीरशासन सेवी दीपचन्द्र वर्णी मेरे विचार शीर्षक से ग्रन्थ की उपयोगिता लिखते हैं—

कोई चार वर्ष के करीब हुए, जाँबुडो (गुजरात) में मुझे ‘सूर्यप्रकाश’ ग्रन्थ को देखने का अवसर मिला था और उसे देखने पर ग्रन्थ के निर्माण, अनुवाद, प्रकाशन और दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत के विज्ञापन में उसे स्थान दिये जाने आदि पर कितनी ही शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं। हाल में पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार की लिखी हुई उसकी पूरी परीक्षा-लेखमाला को भी मैंने पढ़ा है। वास्तव में स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित शास्त्रलक्षण के अनुसार यह ‘सूर्यप्रकाश’ ग्रन्थ कोई जैनशास्त्र नहीं है। इसमें पद पद पर विरोध भरे पड़े हैं, प्रतिवादियों को इसके द्वारा जैनधर्म के खण्डन का एक अमोघ शस्त्र प्राप्त हो जाता है, तत्त्वोपदेश का तो इसमें नामोनिशान भी नहीं है, मोही प्राणियों को जो कि बेचारे आप ही मोक्षमार्ग को भूले हुए हैं और भी भुलावे में डालकर उनका अहित करने वाला है और मिथ्यात्व का वर्धक है। तब ग्रन्थकार ने ऐसा मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थ रचा ही क्यों? इस शंका के लिए इतना ही समझ लेना काफी होगा कि अहंमन्य मुनिराज सोमसेन

भट्टारक ने जब त्रिवर्णाचार जैसा ग्रन्थ रचकर संसार को भुलावे में डाल दिया है, तब ये ग्रन्थकार महाशय नेमिचन्द्र भी तो उन्हीं शिथिलाचारी भट्टारकों के शिष्य-प्रशिष्य हैं, शिष्य महाशय यदि गुरु से दो कदम आगे न बढ़ें तो गुरु का नाम ही क्या चला सकेंगे? ठीक है, इनको ऐसा ही करना उचित था, क्योंकि ये बहुआरम्भी और परिग्रही थे, विषयकषायों के गहरे रंग में रंगे हुए थे, ऐसा करने में ही इनके प्रयोजन की सिद्धि थी अथवा ये ऐसा ही कर सकते थे। इनके पास थे भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उन्हीं को इन्होंने दूसरों को बतलाया है।

भट्टारकीय संस्कारों से संस्कारित होने के साथ-साथ ये ग्रन्थकार महाशय अज्ञानबहुल भी थे, इसी से वे अपनी इस रचना में सिद्धहस्त न हो सके। इन्होंने जो कुछ विचार प्रकट किये, वे सब भगवान् महावीर के मुख से भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में किये हैं, परन्तु खेद है कि भविष्य कहलाते कहलाते आप भूत भी कहलाने लगे और वह भी उनके सम्बन्ध में जिनका अस्तित्व न तो भगवान् महावीर से पहले ही था और न वे वीर प्रभु के समकालीन ही थे। इसी के साथ आप ऐसी ऐसी बातें भी कहला गये जो पूर्वापर विरोध को लिये हुए तथा जैन सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जिन कठोर एवं तिरस्कारमय अपशब्दों के कहने में एक साधारण अज्ञानी तीव्रकषायी जीव भी शंकित और संकुचित होवे उन्हें भी आप बिना किसी संकोच के परम वीतरागी भगवान् महावीर के मुख से कहला गये हैं। और वह भी प्रायः उन्हीं के उपासकों के प्रति। इन सब असम्बद्ध विरुद्धादि विलक्षण बातों का इस परीक्षा में विस्तार के साथ अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। उसे पाठकों को देखना चाहिए। अच्छा होता यदि ग्रन्थकार महाशय अपने विचार स्वयं स्वतन्त्र रीति से लिखते और महाराजा श्रेणिक का सम्बन्ध मिलाकर उन्हें वीर प्रभु के द्वारा कहे गये प्रकट न करते, इससे प्रभु का अवर्णवाद तो न होता। अपने विचारों के साथ में महावीर प्रभु का नाम जोड़ देना घोर अपराध है और दूसरों को धोखा देना है।

समझ में नहीं आता पण्डित नन्दनलाल जी वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज अपना गृहस्थावास त्याग करके जब केवल सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं का विशेष रूप से आराधन करने के लिये ही अनगार संघ में विचर रहे हैं, तब वे ऐसे दूषित ग्रन्थों के अनुवादादि द्वारा उनके प्रचार में क्यों लग गये? आपने केवल सूर्यप्रकाश ही नहीं, किन्तु चर्चासागर भी प्रकाशित कराकर दानविचार भी स्वतन्त्र रच डाला, जिनकी समीक्षाएँ भी निकल चुकी हैं और जिनके कारण समाज में खासी हलचल (जंग) मची हुई है। मेरी यह शंका और भी गम्भीर हो जाती है जब मैं देखता हूँ कि इन ग्रन्थों का समर्थन दक्षिणी मुनिसंघ के द्वारा किया गया है। श्रीमान् आचार्य शान्तिसागर जी महाराज कुछ भी इनके विरुद्ध अपना मत प्रकट नहीं कर रहे हैं और इसलिये कितनी ही भोली जनता इनको जैन शास्त्र समझकर अपना रही है। मालूम होता है या तो आचार्य शान्तिसागर महाराज इन ग्रन्थों से सहमत हैं या अपने सच्चे विचार किसी कारण से प्रकट करने में असमर्थ हैं अथवा उनको असली बात बतलाई ही नहीं जाती। कुछ भी हो, उनका कर्तव्य है कि वे इनके विषय में शीघ्र ही अपना

स्पष्ट मत जैसा हो, वैसा अवश्य ही प्रकट करा दें, जिससे जनता का भ्रम मिट जावे। जहाँ तक मैं समझता हूँ उनको ग्रन्थों तथा ग्रन्थसमीक्षाओं आदि की ये सब बातें विदित ही नहीं होतीं और यों ही संघ की अकीर्ति हो रही हैं। अतः समाज के व्यक्तियों को चाहिए कि वे आचार्य महाराज के परिचय में ये सब बातें लाएँ और फिर उनसे पूछें कि वे प्रकृत ग्रन्थादि के विषय में अब क्या मत रखते हैं? इन्हें आर्ष ग्रन्थ (आगम) मानते हैं या कि धर्मविरुद्ध संसार परिपाटी के वर्द्धक मानते हैं?

खेद है कि अनुवादक महाशय क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने इस ग्रन्थ के कर्ता पण्डित नेमिचन्द्र को आचार्य नेमिचन्द्र बना डाला है। और अनुवाद में मूलार्थ के नाम से बहुत-सी अपनी बातें मिला दी हैं। उनकी इस कृति से भले ही कुछ भोले-भाले प्राणी ठगाए जायें, परन्तु विवेकी परीक्षक पुरुष तो कभी भी ठगाये नहीं जा सकते। वे जब आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियों के साथ पण्डित नेमिचन्द्र की इस कर्तृत 'सूर्यप्रकाश' को अथवा बाबा भागीरथ जी वर्णी के शब्दों में 'घोर मिथ्यात्वप्रकाश' को रखेंगे तो वे इसे पढ़ना तो अलग रहा, छूना भी पसन्द नहीं करेंगे॥ अच्छा होता यदि अनुवादक महाशय मूलार्थ जैसा का तैसा प्रकट करके टिप्पणी में चाहे जो कुछ लिखते, इससे अनुवाद का मूल्य बढ़ जाता। अथवा जिन-जिन विषयों पर आपको विवेचन करना था, उन पर स्वतन्त्र ही लिखते तो भी अच्छा होता। परन्तु उन्होंने ऐसे पूर्वापरविरोधी आगमविरोधी, वीर प्रभु का अवर्णवाद करने वाले ग्रन्थ का सहारा लिया, इससे जनता पर उलटा ही प्रभाव पड़ा।

अन्त में मैं श्रीमान् क्षुल्लक ज्ञानसागर जी और मुनिसंघ से भी सादर निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थपरीक्षा की रोशनी में पुनः इस ग्रन्थ पर विचार करके अपना मत प्रकट करने की कृपा करें, तथा भविष्य में ऐसे ग्रन्थों का ही प्रकाशन व समर्थन करें जो वीरवाणी के अनुसार श्रीकुन्दकुन्दादि माननीय आचार्यों द्वारा रचित हों अर्थात् जो मिथ्यात्व अंधकार के नाशक, रागद्वेषादि संसार की परिपाटी के उच्छेदक तथा वीतरागता विज्ञानता के पोषक हों और जनता से भी साग्रह प्रेरणा है कि वह भी अब परीक्षा के समय में ज्यों-त्यों किसी पूर्व ऋषि के नाम मात्र से ठगावें नहीं, किन्तु उन ऋषियों के अन्यान्य वचनों से, आगम और आम्लाय से मिलान करें, फिर अनुमान और आगमों से जाँच करके भी स्वीकार करें क्योंकि जितने वचन वीतराग विज्ञानता के पोषक हैं वे सब जैन वचन हैं और रागादिकवर्द्धक हैं, वे सब जैनधर्म के विरुद्ध मिथ्याशास्त्र या वचन हैं।

मैंने ये विचार सज्जनों के विचारने के लिये लिखे हैं। मुझे किसी से कोई विरोध नहीं है। मैं तो सत्य जिन (वीर) वाणी का प्रकाश चाहता हूँ, उसी का उपासक हूँ।

पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न' इस ग्रन्थ के चौथे खण्ड की भूमिका में लिखते हैं—

“जितना पीला है, उतना सब सोना नहीं है” यह कहावत उन भोले भाइयों को समझाने के लिये बहुत ही उपयुक्त है, जो विवेक और गम्भीर दृष्टि से काम न लेकर वेष और भाषा के जाल में फँसकर सन्मार्ग पर नहीं पहुँचने पाते या उससे भ्रष्ट होते हैं। शास्त्रों के विषय में यह कहावत

पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। मिथ्यात्व की तीन मूढ़ताओं में शास्त्रमूढ़ता को जो स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया, उसका कारण यह है कि यह एक स्वतन्त्र मूढ़ता नहीं है किन्तु सब मूढ़ताओं का प्राण है। सब मूढ़ताओं के मूल में यह मूढ़ता रहती है। यह मूढ़ताओं की जननी है।

साधारण लोगों की विवेक शक्ति बहुत हलकी रहती है। और किसी चीज को पहचानने के लिये उनके लक्षण बहुत व्यभिचरित रहते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों के समान वे शास्त्रों की भाषाओं को भी महत्त्व देते हैं। इसी से लोग शास्त्र के समान संस्कृत के किसी भी श्लोक से घबराते हैं, डरते हैं। जनता की इस कमजोरी का धूर्त पण्डितों ने खूब ही दुरुपयोग किया है। संस्कृत भाषा भारत के प्रायः सभी प्राचीन सम्प्रदायों में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है, इसलिये धूर्त पण्डित इसका सदा दुरुपयोग करते रहे हैं। सभी सम्प्रदायों में इस प्रकार का धूर्ततापूर्ण साहित्य तैयार हुआ है और बहुत अधिक हुआ है। जैनियों ने जिस प्रकार साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की है, उसी प्रकार इस अंगविकार की भी पूर्ति की है।

धर्म के नाम पर अनेक जैन लेखक बड़ा से बड़ा पाप करने से भी पीछे नहीं हटे हैं। यहाँ तक कि उन्होंने मनमाने ग्रन्थ बनाकर उनके रचयिता भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, जिनसेन आदि को बना दिया है। और इस प्रकार जनता की आँखों में धूल झोंकने की असफल कुचेष्टा की है। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने ग्रन्थ पर तो अपना नाम दिया है, परन्तु उसमें भगवान् महावीर आदि के मुख से इस प्रकार के वाक्य कहलाये हैं, जो जैनधर्म के विरुद्ध, क्षुद्रतापूर्ण और दलबन्दी के आक्षेपों से भरे हुए हैं।

इसी श्रेणी के ग्रन्थों में 'सूर्यप्रकाश' भी एक है, जिसकी अधार्मिकता और अनौचित्य का इस पुस्तक में मुख्तार साहिब ने बड़ी अच्छी तरह से प्रदर्शन किया है। इस प्रकार के जाली ग्रन्थों का भण्डाफोड़ करने के कार्य में मुख्तार साहिब सिद्धहस्त हैं। आपने भद्रबाहु-संहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि जाली ग्रन्थों की परीक्षा करके शास्त्रमूढ़ता को हटाने का सफलतापूर्ण और प्रशंसनीय उद्योग किया है।

ग्रन्थ परीक्षा के इस कार्य की सैकड़ों विद्वानों ने जहाँ मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, वहाँ इस कार्य के निन्दकों की भी कमी नहीं है। परन्तु इससे अन्धविश्वासियों और स्वार्थियों की अस्तित्व-सिद्धि के सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होता।

सत्य के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। दर्शन होने पर उस तक पहुँचना बड़ी वीरता का कार्य है और पहुँच करके उसके चरणों में सिर झुकाकर आत्मोत्सर्ग करना देवत्व से भी अधिक उच्चता का फल है। जिनका यह सौभाग्य नहीं है, जिनमें यह वीरता नहीं है, जिनमें यह उच्चता नहीं है वे असत्य के जाल में फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु उनका ईर्ष्यालु हृदय दूसरों की सत्य-प्राप्ति को सहन नहीं कर सकता। इसलिये वे निन्दा करते हैं, गालियाँ देते हैं, कटाक्ष करते हैं और जिस आधार पर वे अपनी सत्यता के गीत गाते हैं, उस आधार को काटने

तक के लिये तैयार हो जाते हैं।

“जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है” इस बात को वे लोग भी बड़े गौरव के साथ कहते हैं, जो बिल्कुल अन्धश्रद्धालु हैं और दूसरों की आलोचना करते समय जो परीक्षा की युक्ति-तर्क की दुहाई देते हैं। परन्तु जब किसी निष्पक्ष परीक्षा से उनके अन्धविश्वास को या स्वार्थ को धक्का पहुँचता है, तब उनका हृदय तिलमिला उठता है। वे शास्त्र की परीक्षा को पाप कहने लगते हैं। इस समय उनकी हास्यास्पद मनोवृत्ति एक तमाशा बन जाती है।

इस दुर्मनोवृत्ति से त्रस्त होकर वे चिल्लाने लगते हैं कि “बस! परीक्षा मत करो परीक्षा करना पाप है। सरस्वती की परीक्षा करना माता के सतीत्व की परीक्षा करने के समान निन्द्य है। जब हम माँ-बाप की परीक्षा नहीं करते, तब हमें सरस्वती की परीक्षा करने का क्या हक है? दुनियाँ के सैकड़ों कार्य बिना परीक्षा के ही चलते हैं आदि।”

अगर कोई वैयक्तिक मिथ्यात्वी या अज्ञानिक मिथ्यात्वी इस प्रकार के उद्गार निकालता है तो उसकी इस मनोवृत्ति को अनुचित कहते हुए भी हम क्षम्य समझते हैं परन्तु जो एकान्त या विपरीत मिथ्यात्वी हैं और अपने को सम्यक्त्वी विवेकी ज्ञानी समझते हैं तथा अपने पक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन करते हैं, जब वे परीक्षा को पाप कहने लगते हैं तब उनकी यह निर्लज्जता उस सीमा पर पहुँच जाती है जिसे देखकर निर्लज्जता भी लज्जित हो जावे।

अरे भाई! माँ बाप की परीक्षा न करना तो ठीक, परन्तु जगत् में ऐसा कौन प्राणी है जो जीवन के अधिकांश कार्य परीक्षापूर्वक न करता हो। एक कीड़ी (चींटी) भी जब कोई चीज खाती है तब अपनी शक्ति के अनुसार उसकी परीक्षा कर लेती है कि वह भक्ष्य है या अभक्ष्य? हम भी हर एक पुरुष को बाप नहीं मानते, किन्तु आकृति आदि से पहचानकर परीक्षा कर उसे बाप मानते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि कहीं परीक्षा शीघ्र होती है, कहीं देरी से होती है, कहीं थोड़ी होती है, कहीं बहुत होती है, कहीं अल्पावश्यक होती है, कहीं बह्वावश्यक होती है, परन्तु परीक्षा होती सब जगह है। इस विषय में तीन बातें विचारणीय हैं—

१. वस्तु का मूल्य, २. परीक्षा की सुसम्भवता की मात्रा, ३. परीक्षा करने न करने से लाभ-हानि की मर्यादा।

१. रत्न परीक्षा में हम जितना परिश्रम करते हैं, उतना भाजी तरकारी की परीक्षा में नहीं करते। धर्म अथवा शास्त्र सबसे अधिक बहुमूल्य हैं, उस पर हमारा ऐहिक और पारलौकिक समस्त सुख निर्भर है। उसका स्थान माँ बाप से बहुत ऊँचा और बहुत महत्वपूर्ण है, इसलिये अगर हम सब पदार्थों की परीक्षा करना छोड़ दें तो भी शास्त्र की परीक्षा करना हमें आवश्यक ही रहेगा।

२. माता के सतीत्व असतीत्व की परीक्षा करने का हमारे पास सुलभ साधन नहीं है। उसकी प्रामाणिक साधनसामग्री मिलना बहुत कठिन है, जबकि शास्त्रपरीक्षा में हमारी विवेक बुद्धि ही पूरा काम कर सकती है। और परीक्षा की साधन-सामग्री भी बहुत मिलती है।

३. तीसरी और सबसे अधिक विचारणीय लाभ-हानि की मर्यादा है। माता के सतीत्व की परीक्षा सरल हो या कठिन, परन्तु पुत्र के लिये वह निरर्थक है। क्योंकि अब वह दूसरे के गर्भ में जाकर अन्य का पुत्र नहीं बन सकता। उसकी माता सती हो या असती, उसकी माता ही बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त असती होने पर भी माता के उपकारों का बोझ हट नहीं सकता। परन्तु शास्त्र के विषय में यह बात नहीं है। शास्त्र अगर कुशास्त्र हो तो हमको अधोगति में ले जायेगा, हमारे जीवन को बर्बाद कर देगा। साथ ही वह हमारे जीवन के साथ बंधा हुआ नहीं है, हम चाहें तो कुशास्त्र से अपनी श्रद्धा को हटा सकते हैं।

इस प्रकार तीनों दृष्टियों से शास्त्र की परीक्षा अन्य सब परीक्षाओं की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि “जिन शास्त्रों से हमने अपनी उन्नति की, उनकी परीक्षा करना तो कृतघ्नता है” ऐसे भाइयों को समझना चाहिए कि उन्नति का कारण सत्य है, असत्य नहीं। शास्त्रों में जो सत्य है उसको छोड़ने का कोई उपदेश नहीं देता, असत्य को छोड़ने का उपदेश देता है, जो कि हमारी उन्नति का कारण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जिन जाली शास्त्रों की हम परीक्षा कर रहे हैं, उनको पढ़ करके हम उन्नत हुए हैं यह कहना मिथ्या है।

तीसरी बात यह है कि अगर हम दूध को पीकर पुष्ट हुए हैं इस पर कोई विषमिश्रित दूध पिलाना चाहे और हम न पियें तो इसमें दूध का अपमान नहीं विष का अपमान है। शास्त्र में असत्य का मिश्रण होने से अगर हम उसका त्याग करते हैं तो इसमें असत्य का अपमान है, न कि शास्त्र का।

चौथी बात यह है कि परीक्षा कृतघ्नता नहीं, किन्तु प्रेम-भक्ति और आदर का परिणाम है। सुवर्ण से हम प्रेम करते हैं, इसलिये उसकी खूब परीक्षा करते हैं। उसमें कोई मैल न रह जाये इसलिये बार बार अग्नि में डालते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सुवर्ण से द्वेष करते हैं। इसी प्रकार शास्त्र की परीक्षा करना भी प्रेम, भक्ति और आदर का सूचक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि “हम शास्त्रकार से अधिक बुद्धिमान हों तो परीक्षा कर सकते हैं।” परन्तु यह विचार भी ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि अमुक ग्रन्थ बनाने वाला आजकल के सब मनुष्यों से अधिक बुद्धिमान था, यह समझना मिथ्या है।

दूसरी बात यह है कि अल्पबुद्धि होकर के भी हम किसी बात की परीक्षा कर सकते हैं। सुन्दर गान की परीक्षा के लिये सुन्दर गायक होना आवश्यक नहीं है। यदि हम स्वयं परीक्षा न कर सकते हों तो दूसरा आदमी जो परीक्षा करे उसकी जाँच तो अवश्य कर सकते हैं। अगर हम इतनी भी परीक्षा नहीं कर सकते, तो अपने पक्ष को सत्य और दूसरे के पक्ष को असत्य कहने का हमें कोई हक नहीं रह जाता है। हम विवेकियों में अपनी गणना कदापि नहीं कर सकते॥

जैनसमाज में छोटे-छोटे बालकों को भी शास्त्र का लक्षण पढ़ाया जाता है। लक्षण का उपयोग परीक्षा में ही है। यदि शास्त्र की परीक्षा करना पाप है तो उसका लक्षण बनाना और पढ़ाना भी पाप है, क्योंकि परीक्षा के सिवाय लक्षण का दूसरा उपयोग ही क्या है? जबकि हमारे आचार्यों ने शास्त्र का लक्षण बताया है और स्वामी समन्तभद्र से लेकर पण्डित टोडरमल तक प्रायः सभी सुलेखकों ने शास्त्र की परीक्षा की है, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म में परीक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक स्थान रखती है।

जब भगवान् महावीर के वचन अपने मूलरूप में उपलब्ध न हों, अंगपूर्व नष्ट हो गये हों, जैनधर्म ने हजारों वर्षों तक अनेक ऊँचे नीचे दिन देखे हों, परिस्थितियों के प्रभाव से अनेक दल हो गये हों, दलबन्दियों के चक्कर में पड़कर शास्त्र नाम की ओट में अनेक लेखकों ने एक दूसरे पर कीचड़ उछाला हो, अनेक आचार्यों और टोडरमल जी सरीखे विख्यात ऐतिहासिक विद्वानों को भी परीक्षा की दुहाई देनी पड़ी हो, उस समय शास्त्रपरीक्षा की आवश्यकता कितनी अधिक हो जाती है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

‘सूर्यप्रकाश’ कैसा ग्रन्थ है और उसकी परीक्षा कैसी लिखी गई है, इसकी आलोचना करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि जाली ग्रन्थों में जितनी धूर्तता और क्षुद्रता हो सकती है वह सब इसमें है, और उसकी परीक्षा के विषय में तो मुख्तार साहिब का नाम ही काफी है। यह खेद और लज्जा की बात है कि सूर्यप्रकाश सरीखे भ्रष्ट ग्रन्थों के प्रचारक ऐसे लोग हैं जिन्हें कि बहुत से लोग भ्रमवश विद्वान् और मुनि समझते हैं। परन्तु इसमें उन लोगों का जितना अपराध है उतना या उससे कुछ अधिक अपराध जनता का भी है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि की कोशिश करें, धूर्त लोग धूर्तता दिखायें इसमें क्या आश्चर्य है? यह स्वाभाविक है। जनता को अपना बचाव स्वयं करना चाहिए, उसे सदा सतर्क रहना चाहिए। अपने उद्धार के लिये अपने ही विवेक की आवश्यकता है। आशा है इस परीक्षाग्रन्थ को पढ़कर बहुत-से पाठकों का विवेक जाग्रत होगा।



विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ—

१. त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी—“संसार में जितने अनर्थ होते हैं, वे केवल स्वार्थसिद्धि पर निर्भर हैं। इस ग्रन्थ का नाम ‘सूर्यप्रकाश’ है यदि “घोर मिथ्यात्व प्रकाश” रहता तो अच्छा होता, क्योंकि इसमें श्री महावीर स्वामी का घोर अवर्णवाद किया गया है।”

२. न्यायालंकार पं० वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री, इन्दौर—“आपका जो अति पैनी बुद्धि सचमुच सूर्य के प्रकाश का भी विश्लेषण कर उसके अनवर्ति तत्त्वों के निरूपण करने में कुशल है, उसके द्वारा यदि नामतः सूर्यप्रकाश की समीक्षा की गई है तो उसमें कोई भी तत्त्व गुह्य नहीं रह सकता है। अनुवाद के हृदय का भी सच्चा फोटू आपने प्रकट कर दिखाया है। आपकी यह परीक्षा तथा पूर्वलिखित ग्रन्थपरीक्षाएँ बड़ी काम की चीजें होगी।”

३. पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, सूरत—“ ‘सूर्यप्रकाश-परीक्षा’ के लेख मैंने अक्षरशः पढ़े हैं। उनकी तारीफ मैं तो क्या करूँ, मगर विरोधी जीव भी बेचैन हो जाते होंगे, परन्तु वे क्या करें? हठ का भूत जो उनपर सवार है।”

४. रायबहादुर साहू जगमन्दरदासजी, नजीबाबाद—“चर्चासागर के बड़े भाई ‘सूर्यप्रकाश’ ग्रन्थ की परीक्षा देखकर तो मेरे शरीर के रोंगटें खड़े हो गये...। पूज्य पं० टोडरमलजी आदि कुछ समर्थ विद्वानों के प्रयत्न से यह भट्टारकीय साहित्य बहुत कुछ लुप्तप्राय हो गया था परन्तु दुख का विषय है कि अब कुछ भट्टारकानुयायी पंडितों ने उसका फिर से उद्धार करने का बीड़ा उठाया है। अतः समाज को अपने पवित्र साहित्य की रक्षा के लिए बहुत ही सतर्कता के साथ सावधान हो जाना चाहिए और ऐसे दूषित ग्रन्थों का जोरों के साथ बहिष्कार करना चाहिए, तभी हम अपने पवित्र धर्म और पूज्य आचार्यों की कीर्ति को सुरक्षित रख सकेंगे।”

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ परीक्षा : उमास्वामि-श्रावकाचार	१-१७
ग्रन्थ परीक्षा : कुन्दकुन्द श्रावकाचार	१८-३०
ग्रन्थ परीक्षा : जिनसेन त्रिवर्णाचार	३१-७५
ग्रन्थ परीक्षा : भद्रबाहु संहिता	७६-१४९
ग्रन्थ परीक्षा : सोमसेन-त्रिवर्णाचार	१५०-२८८
धर्मपरीक्षा की परीक्षा	२८९-३०२
अकलंक प्रतिष्ठापाठ की जाँच	३०३-३०८
पूज्यपाद-उपासकाचार की जाँच	३०९-३१७
सूर्य प्रकाश-परीक्षा	३१८-४०५